



दैनिक भास्कर

Date: 07-03-17

महिला केंद्रित फिल्म पर रोक क्या बताती है?



केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड ने 23 फरवरी को फिल्म 'लिपस्टिक अंडर माई बुर्का' की कहानी को 'स्त्री उन्मुख' बताते हुए प्रमाणित करने से मना कर दिया। यानी उस पर प्रतिबंध लगा दिया। यह इस तथ्य का एक और कटु संकेत है कि हम आज भी पुरुष प्रधान समाज में जी रहे हैं। विडंबना है कि यह निर्णय उस समय आया है जब पूरी दुनिया की महिलाएं स्त्री द्वेष, लिंग आधारित हिंसा और वह सब कुछ जो 'गैर-स्त्री उन्मुख' है, के खिलाफ 8 मार्च को हड़ताल करने वाली हैं।

'एक महिला के तौर पर मेरा कोई देश नहीं है। एक महिला के रूप में संपूर्ण विश्व मेरा देश है,' 20वीं सदी की अंग्रेज लेखिका और आधुनिकतावादी वर्जिनिया वुल्फ

के ये शब्द स्पष्ट रूप से वर्णित करते हैं कि प्रथम अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाने के सौ वर्ष बाद भी महिलाएं समानता के लिए लड़ रही हैं। अलंकृता श्रीवास्तव की यह फिल्म बताती है कि कैसे महिलाएं उनके उपयोग की दो विपरीत चीजों को अपनी इच्छाओं को व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल कर सकती हैं। फिर उनका धर्म, जाति, वर्ग या सामाजिक हैसियत कैसी भी क्यों न हो। फिल्म उन तरीकों की पड़ताल करती है, जो महिलाएं अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए चुपके से इस्तेमाल करती हैं। 'लिपस्टिक अंडर माई बुर्का' फिल्म चार महिलाओं की कहानी कहती है, जो भारत के एक छोटे शहर में रहती हैं और इनके अपने सपने और इच्छाएं हैं। वे चीजों को महिलाओं के नज़रिये से देखती हैं और उन्हें अपनी कहानियां कहने की अनुमति देती है, चाहे अच्छी या बुरी। सिर्फ इसके लिए इसे सेन्सर क्यों किया जाना चाहिए? फिल्म में ऐसा क्या है, जिसने हमारी पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को भयभीत कर दिया है?

इस प्रश्न का उत्तर हमारे उस तरीके में छिपा है, जिससे हम महिलाओं के लिए राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक ढांचे में जगह बना रहे हैं। भारत में आंकड़े सब बयां करते हैं। प्राथमिक विद्यालय के स्तर पर बालक और बालिकाओं का नामांकन लगभग बराबर होता है लेकिन, करीब 20 प्रतिशत लड़कियां सेकंडरी स्कूल के स्तर तक पढ़ाई छोड़ती दिखाई देती हैं। फिर इसके बाद आता है आर्थिक नियंत्रण। पिछले 10 वर्षों के दौरान भारतीय महिलाओं की श्रम बल में भागीदारी की दर, जो पहले ही अन्य एशियाई देशों के मुकाबले बहुत कम है, 37 प्रतिशत से गिरकर 27 प्रतिशत रह गई है। हम उन्नति कर रहे हैं लेकिन, हम महिलाओं को कमाई करने के लिए घर से बाहर कदम रखने से अभी भी रोक रहे हैं। भारत विश्व के उन चंद देशों में से है, जहां शादी के बाद महिलाओं के करियर में ब्रेक होते हैं, जबकि विश्व के दूसरे हिस्सों में महिलाएं बच्चे के जन्म के दौरान थोड़ी अवधि के लिए अपने काम से विराम लेती हैं। हाल ही में कुछ राज्य सरकारों ने मातृत्व अवकाश के प्रावधान किए हैं। राजनीतिक भागीदारी की हालत भी बहुत खराब है। आज़ादी के 70 वर्षों के बाद भी भारतीय संसद में महिलाओं की भागीदारी 11 प्रतिशत से अधिक नहीं रही है। केवल 33 प्रतिशत सीटों के आरक्षण (50 प्रतिशत क्यों नहीं) की मांग करने वाले महिला आरक्षण विधेयक को पुरुष सांसदों और संपूर्ण 'पुरुष उन्मुख' राजनीतिक तंत्र के कड़े विरोध का सामना करना पड़ रहा है। दूसरी ओर, कॉर्पोरेट क्षेत्र में

भी हालात बेहतर नहीं हैं। अनेक सूचीबद्ध कंपनियां अपने बोर्ड में एक भी योग्य महिला की नियुक्ति नहीं करती प्रतीत होती हैं, जबकि कंपनी एक्ट के तहत यह अनिवार्य है। क्यों नहीं कानून से परे जाकर बोर्ड में 50 प्रतिशत महिला सदस्य नियुक्त किए जाएं?

जब जस्टिन ट्रूडो 2015 में कनाडा के प्रधानमंत्री बने और मंत्रियों की कैबिनेट में आधे पुरुष और आधी महिलाएं नियुक्त कीं तो लोगों ने उनसे इसकी वजह पूछी। उनका स्पष्ट और संक्षिप्त जवाब था, 'क्योंकि यह 2015 है।' यह उनकी सरल लेकिन, निष्कपट प्रतिक्रिया थी, जिसकी गूंज पूरी दुनिया ने सुनी लेकिन अफसोस, भारत में 2015 अभी तक नहीं आया है। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक योगदान के साथ-साथ महिलाएं अभी भी अधिकतर देशों में घरेलू कार्यों और बच्चों की देखभाल का पूरा भार वहन करती हैं। भारत में पुरुषों और महिलाओं के बीच बिना भुगतान के देखभाल करने और घरेलू कामों में बिताए गए घंटों के संदर्भ में सर्वाधिक अंतर है। इससे न केवल महिला का स्वास्थ्य संकट में पड़ता है, बल्कि कई मामलों में उसे प्रोफेशनल रूप से भी कीमत चुकानी पड़ती है, जिसमें उसे अपने कदम पीछे खींचने पड़ते हैं और समाज द्वारा उससे रखी गई अपेक्षाओं को भी पूरा करना पड़ता है। सबसे बुरी बात यह कि उसके पेशेवर काम और देखभाल को कोई मान्यता नहीं मिलती और उसे कोई ध्यान में भी नहीं लेता। घरेलू काम के लिए किसी तरह के आर्थिक भुगतान की बात तो छोड़ो, कोई सराहना तक नहीं मिलती। समाज को दिए इस विशाल योगदान की जीडीपी का कोई आंकड़ा और खुशहाली का अन्य मापदंड परवाह नहीं करता। हमारे देश की एक अन्य डरावनी सच्चाई यह है कि 60 प्रतिशत पुरुष और महिलाएं दोनों घरेलू हिंसा की बात को स्वीकार करते हैं। इनमें से 40 प्रतिशत महिलाएं गर्म खाना नहीं परोसने, ससुराल वालों की इज्जत न करने, घर की देखभाल न करने और शारीरिक संबंध न बनाने जैसे मुद्दों पर हिंसा की शिकार बनती हैं। महिलाएं चुपचाप घर में रहने को अपनी नियति मान लेती हैं और यहीं पर गहरी पैठ बनाए हुए पितृसत्ता जीत जाती है। अब यह सब कुछ एक निर्णायक स्थिति में पहुंच चुका है और भारत समेत विश्व की तमाम महिलाएं कह रही हैं कि हम थक चुकी हैं, बहुत हो चुका अब और नहीं। 8 मार्च को हड़ताल का आह्वान यह दिखाने के लिए किया गया है कि महिला के बगैर यह दुनिया कैसी दिखेगी। महिलाएं न तो उस दिन काम पर जाएंगी और न ही घर में काम करेंगी या कुछ खरीदारी करेंगी। हम देखेंगे कि कैसे कार्यस्थल, घर और फ्री मार्केट अर्थव्यवस्था, जो चीजों की खरीदफरोख्त और सेवाओं पर निर्भर हैं, हमारे बगैर संभलती हैं। यह 'डे विदाउट वुमन' हड़ताल के दौरान अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप और उन सामाजिक अन्यायों का विरोध किया जाएगा, जिनके कारण वे सत्ता तक पहुंच सके। महिलाओं की यह अंतरराष्ट्रीय हड़ताल 30 देशों में होगी।

निशा अग्रवाल, (ये लेखिका के अपने विचार हैं।)

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 07-03-17

रोबोट कर का असर

माइक्रोसॉफ्ट के संस्थापक बिल गेट्स ने मशविरा दिया है कि मनुष्य के रोजगार बचाने के लिए रोबोट पर कर लगाया जाना चाहिए। इस बात ने चौतरफा बहस को जन्म दिया है, खासतौर पर राजनीतिक फलक में। उनकी योजना के मुताबिक लगाया जाने वाला कर स्वचालन की सामाजिक लागत की वसूली करेगा और उसका इस्तेमाल एक सार्वभौमिक मूलभूत आय (यूबीआई) के लिए धन जुटाने में किया जा सकता है। औद्योगिक वृद्धि के हिमायतियों का कहना है यह नवाचार को हतोत्साहित करने वाला कदम होगा और इसका असर उत्पादकता में कमी के रूप में हमारे सामने आएगा। ग्रीस के पूर्व वित्त मंत्री यानीस वारोफाकिस जो धुर वामपंथी विचारधारा के हैं, ने यह सवाल उठाया है कि इस कर का निर्धारण किस प्रकार किया जाएगा। उन्होंने इस संबंध में तीन समस्याएं गिनाई हैं। पहली समस्या: उनका कहना है कि आमतौर पर किसी

कर्मचारी के अंतिम निर्धारित वेतन का प्रतिस्थापन किया जाता है। ऐसे में इस बात को लेकर अलग-अलग विचार हो सकते हैं कि प्रासंगिक वेतन में कितनी बढ़ोतरी या कमी की जानी चाहिए। ऐसे मनमर्जी वाले और व्याख्या के अधीन रुख में भ्रष्टाचार की बहुत अधिक आशंका रहती है। भारत में कर अधिकारियों का सामना करने वाले इस बारे में बता सकते हैं। दूसरी बात, सभी रोबोट मनुष्यों के रोजगार नहीं छीनेंगे। उनमें से कुछ ऐसे काम भी करेंगे जो मनुष्यों ने कभी किए ही नहीं। उन मामलों में प्रश्न यह उठता है कि किस वेतन स्तर पर कर लगेगा। तीसरी समस्या थोड़े दार्शनिक रुख वाली है। अगर मान लिया जाए कि रोबोट द्वारा प्रतिस्थापित किए जाने के पहले कोई मनुष्य एक खास मशीन को चला रहा था तो जब मशीन रही ही नहीं तो उस पर आयकर कैसे लगाया जा सकता है? इसके लिए गेट्स ने यह सुझाव दिया कि मोटा-मोटा कर लगाया जा सकता है कि जो स्वचालन की गति को धीमा कर देगा। यह बात उत्पादकों को इस बात के लिए भी प्रेरित कर सकती है कि वे कृत्रिम बुद्धिमत्ता की जगह मौजूदा मशीनरी का इस्तेमाल शुरू कर दें। इससे स्वचालन का पूरा विचार ही विफल हो जाएगा। अमेरिका में इस बात को लेकर बहस की तीव्रता इस बात को रेखांकित करती है कि रोबोट का आगमन किस कदर उथलपुथल पैदा कर सकता है और उससे निपटने के लिए नीतिगत प्रतिक्रिया में स्थिरता लाने की आवश्यकता है।

इसे लेकर कर्मचारियों पर कुल वेतन कर लगेगा जो उन पर बोझ डालेगा। इसके अलावा लाभांश से होने वाली आय और पूंजीगत लाभ पर कर लगाकर यूबीआई को वित्तीय मदद मुहैया कराना भी इसमें शामिल है। भारत में इसके लिए इतर प्रतिक्रिया की आवश्यकता है। चीन और जापान में जहां रोबोट को इसलिए बढ़ावा मिल रहा है क्योंकि वहां कामगार वर्ग उम्रदराज हो रहा है, वहीं भारत में ऐसी कोई दिक्कत नहीं है इसलिए यहां लागत कोई मुद्दा नहीं है। उदाहरण के लिए भारत में हर साल 15 लाख इंजीनियर तैयार होते हैं। इनकी प्रति घंटा श्रम लागत एक डॉलर से भी कम है। इसके बावजूद देश में तमाम कंपनियों कृत्रिम बुद्धिमत्ता के पीछे हैं क्योंकि कुशल श्रमिकों की कमी है। अधिकांश इंजीनियर अमेरिका चले जाते हैं जबकि करीब एक चौथाई बेरोजगार रह जाते हैं। उस दृष्टि से देखा जाए तो विभिन्न सरकारों ने कौशल विकास पर कतई काम नहीं किया है। वर्ष 2022 तक 40 करोड़ लोगों को प्रशिक्षित करने का लक्ष्य भी दूर की कौड़ी नजर आ रहा है। ऐसे में गेट्स का रोबोट कर शायद भारत पर लागू नहीं हो। परंतु रोबोटीकरण के कारण भविष्य में रोजगार तैयार होने की कमजोर दर का असर भविष्य में सामाजिक अशांति को बढ़ावा देगा। इससे यह भी पता चलता है कि उचित प्रशिक्षण और कौशल संबंधी पहल पर बल देने की आवश्यकता है। तभी व्यवस्था बरकरार रह सकेगी

Date: 07-03-17

सबको बुनियादी आय पर रजामंदी की हकीकत

यूबीआई को लेकर आम सहमति बन चुकी है। इस सहमति का उल्लेख करते हुए उसकी भविष्य की राह की विवेचना कर रहे हैं रथिन राँय

अर्थशास्त्रियों के बीच यह मुद्दा बहस का विषय रहा है कि देश में सार्वभौमिक मूलभूत आय (यूबीआई) पेश करने की आवश्यकता है अथवा नहीं। यूबीआई से जुड़ी बहस गरीबी उन्मूलन के तरीके के रूप में उसकी उपयोगिता से संबंधित है। यह उपयोगिता मनरेगा, सब्सिडी और सार्वजनिक वितरण प्रणाली जैसे मौजूदा उपायों के बरअक्स है। साथ ही इस बात पर भी चर्चा चली कि इसी योजना को व्यवहार्य बनाने के लिए राजकोषीय गुंजाइश है या नहीं। आर्थिक समीक्षा में इस विषय पर चर्चा की गई। समीक्षा में यह उचित ही कहा गया कि इस विचार को विचारधारा से परे हटकर सबका समर्थन मिला है। लेकिन देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को लेकर कोई बहुत सकारात्मक अनुमान नहीं हैं

और यूबीआई के समर्थकों और इसके विरोधियों ने इसकी अनदेखी की है या कहें इससे बचकर निकल गए हैं। सबसे पहले उन भ्रमों को दूर करते हैं जो बहस से अब तक सामने आए हैं। यूबीआई को लेकर कहा गया कि इसे वित्तीय मदद मुहैया कराने के लिए तमाम अन्य सब्सिडी और स्थानांतरण खत्म किए जा सकते हैं। यह सहज और सरल है। देश में कीमत आधारित सब्सिडी नाकाम हो चली है क्योंकि वह वांछित लक्ष्य को पूरा ही नहीं कर पाती। लेकिन गरीबी उन्मूलन उनका लक्ष्य भी नहीं है

। भले ही राजनीतिक तौर पर यह दलील देना सहज हो कि वे गरीबों के लिए हैं। खाद्य और उर्वरक सब्सिडी से किसानों को राहत देने का प्रयास किया जाता है और उन लोगों को सस्ता खाद्यान्न मुहैया कराया जाता है जिनको इसकी जरूरत होती है। इन दोनों बातों से गरीबों को मदद मिलती है। अधिकांश अन्य सब्सिडी मसलन कर रियायत आदि वृद्धि दर बढ़ाने के लिए होती हैं या फिर निर्यात सुधारने अथवा ढांचागत बदलाव के लिए। यहां तक कि मनरेगा के लक्ष्य भी स्पष्ट नहीं हैं। इसका उद्देश्य सार्वजनिक कामों की मदद से रोजगार मुहैया कराना है। इसका लक्ष्य तभी पूरा होता है जब इसकी बदौलत पूंजीगत परिसंपत्ति तैयार हों। अगर इसका लक्ष्य केवल रोजगार की कमी को दूर करना होता तब तो सीधे लोगों के खाते में भी 100 दिन के न्यूनतम रोजगार का पैसा जमा कराया जा सकता था। बाद वाले कदम से गरीबी कम हो सकती है जबकि पहले वाले कदम को गरीबी उन्मूलन का तरीका नहीं माना जा सकता। यूबीआई को अगर सार्वभौमिक नहीं बनाया गया तो यह बेमानी होगा। इसलिए जो लोग गरीबी उन्मूलन के लिए लक्षित मूलभूत आय की बात करते हैं लेकिन यूबीआई की बात नहीं करते। वे गरीबों के लिए आय सब्सिडी चाहते हैं।

विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देशों ने अब यह स्वीकार कर लिया है कि गरीबों को यूंही लाभान्वित करते रहना गरीबी की समस्या का हल नहीं है। यह काम आर्थिक वृद्धि की मदद से ही हो सकता है। गरीबी हटाने के लिए वृद्धि में भागीदारी जरूरी है। सबसे साधारण ढंग से देखें तो यूबीआई एक नकारात्मक आय कर है। जरा कल्पना कीजिए कि हर वयस्क भारतीय के पास एक पैन नंबर है। हर महीने कुछ भारतीय कर चुकाते हैं और कुछ के पैन कार्ड से जुड़े बैंक खातों में सरकार की ओर से पैसा आता है। यूबीआई के लब्बोलुआब को इससे समझा जा सकता है। यानी कराधान की मदद से आय के वितरण में बदलाव। यानी अधिक आय वाले लोगों की आय का कुछ हिस्सा कम पाने वालों को आर्थिक गतिविधियों के बदले देना। राज्य का यह हस्तक्षेप आय की असमानता कम करेगा। इसके पीछे मूल विचार लोक कल्याणकारी अर्थव्यवस्था के दूसरे सिद्धांत में वर्णित है। यानी जब कोई अर्थव्यवस्था सुस्थिर स्थिति में पहुंच जाती है। वह वृद्धि दर जिस पर श्रम और पूंजी का पूर्ण इस्तेमाल हो पाता है। उस वक्त सरकार राजकोषीय नीति की मदद से आय के वितरण को बदल सकती है। इसके लिए वह अमीरों पर कर लगा सकती है ताकि गरीबों को बिना वृद्धि दर से समझौता किए कुछ दिया जा सके। संसाधनों के पूर्ण इस्तेमाल के बावजूद बाजार आय के सही वितरण में नाकाम हो सकते हैं, तब राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। बाधा यहीं पर है। कल्याणकारी अर्थव्यवस्था का दूसरा सिद्धांत तब लागू होता है जब संसाधनों का पूरा इस्तेमाल हो रहा हो। भारत जैसी उभरती और विकासशील अर्थव्यवस्था वाले मुल्कों पर यह बात लागू नहीं होती।

इसलिए पूरा ध्यान स्थिर और उच्च विकास पर केंद्रित है। आर्थिक गतिविधियां, उत्पादकता और मेहनताना बढ़ने के साथ-साथ आय भी बढ़ती है और मुनाफा भी। वृद्धि के लाभ हर किसी की आय में इजाफा सुनिश्चित करते हैं और उनके जीवन मानक भी सुधरते हैं। ऐतिहासिक रूप से सफल हर सामाजिक बदलाव में यह देखने को मिला। ऐसे में अगर भारत वास्तव में एक साल में 8 फीसदी की दर से वृद्धि हासिल करती है और सबकी आय सालाना 6 फीसदी की दर से बढ़ती है तो सभी भारतीयों की वास्तविक आय 2035 तक तीन गुनी हो जाएगी। जैसे-जैसे यह प्रक्रिया चलती है आय के वितरण में सरकार का हस्तक्षेप केवल सामाजिक सुरक्षा मुहैया कराने तक रह जाता है। वह भी ऐसे वर्ग के लिए जो वृद्धि में भागीदारी कर पाने में नाकाम है। करों का इस्तेमाल स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे सामाजिक कामों के लिए किया जाएगा। इसके अलावा उसका इस्तेमाल राष्ट्रीय हित के कामों मसलन रक्षा और न्याय आदि के क्षेत्र में किया जाएगा। ऐसे में यूबीआई को लेकर राजनीतिक सहमति एक परेशान करने वाली स्वीकारोक्ति की ओर ले जाती है: 15 साल में भारत का जीडीपी तीन गुना हो जाएगा लेकिन ऐसी कोई उम्मीद नहीं कि इससे सार्वभौमिक बेहतरी आएगी। मानव संसाधन और वित्तीय पूंजी पर काबिज चंद लोगों को वृद्धि का सबसे अधिक फायदा

मिलता है और उनको सबसे अधिक आय भी अर्जित होती है। शेष लोग जो देश की आबादी के आधे से अधिक हैं, उनको इस तबके से स्थायी हस्तांतरण हासिल होगा। इसकी वैकल्पिक व्याख्या यह है कि इस बात पर वैचारिक सहमति है कि भारत 8 फीसदी की विकास दर हासिल नहीं कर पाएगा। यह इस बात की स्वीकारोक्ति है कि हमारी वृद्धि की राह असमान बनी रहेगी। ऐसे में प्रधानमंत्री का यह वादा भी हकीकत से दूर रहेगा कि हर परिवार को एक सम्मानजनक रोजगार मिलेगा। अगर ऐसा हो सकता तो देश के अधिकांश लोगों को यूबीआई की आवश्यकता ही नहीं होगी। आर्थिक समीक्षा में कहा गया है कि हमें आय और रोजगार के एक साथ एक दिशा में लंबे समय तक आगे बढ़ने की उम्मीद नहीं है। लेकिन हमें हकीकत का सामना अधिक बेहतर ढंग से करना होगा। यूबीआई को जो सर्वदलीय स्वीकृति मिली है वह इस बात की स्वीकारोक्ति है कि देश के भविष्य में समावेशी विकास की संभावना नहीं नजर आ रही। ऐसे में सरकार को निरंतर हस्तक्षेप करते रहना होगा। इतना ही नहीं उसे आय के वितरण को भी सुधारना होगा जब तक कि अर्थव्यवस्था अपनी पूरी क्षमता से प्रदर्शन नहीं करती।



Date: 06-03-17

Leave PoK alone

Attempts to integrate it with the rest of India will lead to violent after Effects



When India and Pakistan were on the verge of enjoying their new-found freedom from British rule, the city of Srinagar was besieged by Pakistani guerilla soldiers. To repel the Pakistani attack, Raja Hari Singh sought the help of the Indian army. The brave warriors of India drove back the Pakistani forces. At the same time the war stopped and the United Nations stepped in. This was the birth of the perennial problem of Pakistan Occupied Kashmir (PoK). Since then, the issue of PoK has become a much-debated topic.

Can the integration of PoK with the rest of India be a permanent solution to the Kashmir issue? When we see the issue in its perspective on economic, social, political or technical lines, it becomes more and more clear that the Kashmir issue will not be resolved even if we secure PoK. Merely acquiring 13,000 square kilometres of land will certainly not help the cause of Kashmir. As the great strategist Chanakya has said, a family can be sacrificed for the good of a village; a village can be sacrificed for the good of a country. India today with a population of 1.25 billion has an area of 3.287 million sq km. Acquiring a patch of land the size of a small district, and embracing all the violent after-effects, is likely not to bring a sensible solution.

India devotes about 35 per cent of its annual budget to its defence and security. One of the main reasons for this is the ongoing conflict along the Line of Control in Kashmir. If we believe that conquering this nest of militancy and violence will solve our inherited problem, then we are living in a fool's paradise. If India does indeed "get back" PoK, we will end up spending 50 per cent of our budget on defence alone. Do we need this? And moreover, there are no safeguards to ensure that such a move will translate into long-lasting peace. There will, of course, be arguments that integrating PoK with Kashmir will lead to the development of the beautiful valley which has not seen much progress. In the last several decades, Pakistan has not shown an iota of interest

in either peace talks with India or engaging with separatist movements in PoK. Earlier, former Prime Minister Atal Bihari Vajpayee undertook the Samjhauta Bus journey to Lahore. We all know the outcome — the Kargil war. The Simla Pact, Agra Agreement, Lahore Declaration and other agreements remained just words. Will Pakistan allow for a quiet passage of PoK to India? A permanent solution to the Kashmir and PoK problem, which no one desires, can be war. Both India and Pakistan are nuclear nations. One can imagine the fallout and collateral damage a full-scale war will bring. We cannot afford to have generations of handicapped children, just so that we can possess barren land. When we look at the probable course of action and possible outcomes, it becomes apparent that the development of Kashmir cannot be assured if PoK becomes one with India. We all desire the development of Kashmir. Jammu and Kashmir has been granted autonomous status vide Article 370 of the Constitution, which entails various special provisions. Our focus should be on Kashmir itself and the well-being of its people. Gaining possession of the disputed land will not ensure its inclusion in the development process. Given the terror infrastructure ingrained in PoK and the fact that a section of its population is radicalised, it is unlikely that India's "helping hand" will be welcome. The rational thinker, Basavanna, said that a spark in the neighbour's house will burn down your own as well.

Kashmir has its own set of problems. If a move is made to occupy the disputed land, the flames of terror in the neighbourhood will not only engulf PoK, but will also claim Kashmir. In our greed for PoK, we may lose Kashmir as well. This will further strengthen the arguments of the separatists. If the entire Kashmir region demands separation from India, we will end up giving away more than we expected. Keeping aside our emotions, if we think on political, logical and ethical grounds, it becomes apparent that gaining PoK will not serve any purpose. Those who disagree may say that PoK is an integral part of India and not regaining it would mean an embarrassment. I would have gladly accepted the argument had it been within a decade or two after Raja Hari Singh's initial appeal for help. There has been more than seven decades of stalemate over PoK. There seems to be no silver lining in sight.

Bhat, 19, is a student at First Grade College, Sirsi, Uttar Kannada, Karnataka. The article is the edited text of the winning debate at the P.S. Kamat Memorial Sixth Inter-Collegiate Debate Competition held in Ankola, Karnataka, and has been translated from Kannada

Date: 06-03-17

Many meanings of corruption

The Supreme Court's recent reading of the law of contempt comes as a welcome relief



Not much has been written by way of scrupulous scientific research about judicial corruptibility, but much has been said about it. Several chief justices of India (CJI), incumbent justices, and superannuated justices have lamented the fact that the widespread systematic governance corruptibility has resulted in discrete acts of judicial corruption. The narrative basically, even now, remains deeply hierarchical. It is heavily focussed on the district judiciary: Retired CJI V.N. Khare said in an interview that "corruption in lower courts is no secret", and recommended a team of "dedicated judges" (mostly retired) to monitor and arrest its further spread.

The second narrative suggests that the “rot” may have reached some high courts; and the origins of transfer of judges as a national policy lay firmly located in this narrative. The third narrative suggests that acts of corruption have reached even the shores of the Supreme Court. Shanti Bhushan (and Prashant Bhushan) created a perfect moral storm in 2010 by naming eight CJI among 16 justices who were allegedly corrupt. He gave the names in a sealed envelope to the Supreme Court and even dared it to prosecute them for contempt! And this narrative was embellished by the irrepressible Justice Markandey Katju, as late as 2015, to morally impeach many justices in “higher courts”. The trouble with all these narratives is they are many sided. One, the allegation of corruption is rather easily made but is very difficult to substantiate. Trading in suspicion and even slander, is different from establishing guilt beyond a reasonable doubt. Second, allegations are mainly anecdotal and emerge from the Bar grapevine; the Bar’s passion and penchant for telling stories is well known. Gossip of today (as Michel Foucault once remarked) becomes the truth of tomorrow; and grapevine constitutes the rule and often assumes the visage of public truth. Third, “corruption” is hardly conceptualised.

Everybody agrees that judgments, and accompanying interim orders, should not be sold and bought for a price. But other surrounding concepts await deeper analysis. Is “son stroke” (where near relatives of a sitting judge practice in the same jurisdiction) a corrupt act? Do always buying of land and property by close relations of a judge evidence judicial corruption? What if a judge’s spouse is an independent professional or otherwise lucratively employed? Is a membership by incumbent justices of retired justices housing society a corrupt act? Does an informal agreement to head a statutory body or a commission prior, or on the eve of retirement, amount to corruption? Should past association with a firm of lawyers, or an individual counsel, be regarded retrospectively as a potentially corrupt act or at least a ground of judicial transfer? And, how is any appellate justice to be adjudged as performing a corrupt act under the recent NJAC judgment, which suggests Third Schedule (oath of office) obligation not to recuse? How is one to describe the varieties of judicial “misconduct” as different from impeachable offences?

Careful writing will draw some bright lines between corruptibility in general and specific acts of corruption, or folklore of corruptibility and the fact (actual incidence) of judicial corruption. There is thus a distinction between (as philosopher Seyla Benhabib counselled) “generalised” and the “concrete” other. Even as a folklore grows, facts are hard to come by or establish. The folklore matters as an “evidence” of widespread popular belief about judicial governance corruption. The dominant judicial narrative accentuates contempt jurisprudence, lest popular mistrust may grow and generate collective disobedience of court’s orders, and directions. But too frequent activation, or deployment, of contempt powers may also produce a chilling effect on freedom of speech and expression and of the media freedom to report.

The constitutional courts in India remain confronted by a democratic dilemma; they have tried to walk a fine balance but the belief in contempt power is so strong that media stories are routinely killed in the apprehension of protracted judicial proceedings. The Supreme Court of India breathes a fresh air when it virtually quashes the contempt action against Transparency International and the Centre of Media Studies. It rightly remarked that such surveys “instead gave opportunity to address the malady in the system”. A bench led by Chief Justice of India J.S. Khehar (comprising also Justices D.Y. Chandrachud and Sanjay K. Kaul) said the law of contempt would not “ordinarily” extend to interview and compilation concerning corrupt judicial practises (such as bribing and exercising influence). “Where will research go if this is contempt?” asked the Court.

This is welcome relief, but we must, however, note that it came after a 11-year wait! The learned CJI, around the same time, suggested a “mechanism” for taking a “second call” on government litigation. His Lordship estimated thus a 10 per cent case-load reduction. Of course, there is some linkage between the oft-noted judicial governance corruptibility and workload delays, providing a further argument for urgency of judicial appointments and elevation. Judicial corruption (in the strict sense of buying and selling orders and judgments) is a serious menace to basic individual freedoms.

It is also inimical to judicial independence and to the constitutionally desired social order. The constitutional process for the removal of justices need not be politically cumbersome, if a constitutionally sincere approach were to prevail. And this is one constitutional process that may not belong rightfully to the judiciary, lest it

prove contrary to the rule of law maxim: No person shall be a judge in her own cause. Justice K. Ramaswamy said wisely and well, as far back as 1995, that “criticism of a judge’s conduct or of the conduct of a court even if strongly worded, is, however, not contempt,” if it is “fair, temperate and made in good faith and is not directed to the personal character of a judge or to the impartiality of a judge or court”. And we may do no better than to adhere to this constitutional prescription.

The writer is professor of law, University of Warwick, and former vice chancellor of universities of South Gujarat and Delhi

Date: 06-03-17

Veiled threat

The BJP’s demand to screen burqa-clad voters is inconsistent with Election Commission protocols

A burqa-clad woman showing her inked thumb, women in veil standing in queues, yet others in their traditional attire and head cover, flashing their voter ID cards. These images are a regular feature of election coverage in India. The country may have some way to go in terms of gender parity when it comes to participation in elections. But the image of the woman in the veil at the polling booth has become one of the indicators of the success of the country’s election process. The BJP, though, thinks that the women in the traditional Islamic attire are a threat to fair elections. On March 2, the party asked the Election Commission (EC) to deploy women force — including central paramilitary forces — at polling booths in the last two phases of the UP assembly polls to check the identity of burqa-clad female voters and prevent bogus voting. Women in all manner of veils exercise their franchise. That it’s the burqa-clad woman who makes the BJP uncomfortable shows that the fear of bogus voting is only a ruse for targeting a section of the voters.

This is not the first time the BJP has made such a demand. During assembly elections in Assam last year, it went to the extent of demanding voice tests for women voters in burqa. The EC had then pointed out that a voter — including one in burqa — is allowed to cast her vote only after the poll officer verifies her photo identity card. It seems that the BJP’s remarkable win in Assam has done nothing to change its stand on women voters in the traditional Islamic attire. The party’s new demand also shows that it is either ignorant of the protocols of the EC or wants to undermine them. These protocols do not give security officers the authority to check a voter’s identity. The agency’s Handbook for Returning Officers has a provision for the identification of pardanashin women. They permit the presiding officer to rope in a local woman to identify a woman in a veil of any sort in case of doubt. Female voter turnout in the country has increased from 46 per cent in the 1962 general election to more than 65 per cent in 2014 — the gap between male and female participation has narrowed down to 2 per cent. The BJP’s attempts to give a communal colour to the participation of a section of women in the electoral process could reverse the trend. The party would do well to retract its demand to the EC.
